कर्म की अवस्थाएं

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय राजस्थान

कर्म का अर्थ है– कार्य करना। मन, वचन और काया से मानव के द्वारा जो प्रवृत्ति की जाती है उसे कर्म कहा जाता है। कर्मों की अवस्थाएं जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कर्म रज वह जड़ पदार्थ है, जो जन्म–जन्मान्तर से आत्मा से जुड़ गया है। कर्म की विभिन्न अवस्थाएं हैं। मुख्यरूप से इन्हें ग्यारह भेदों में विभक्त किया गया है– (1) बन्ध, (2) सत्ता, (3) उद्वर्तन, (4) अपवर्तन, (5) संक्रमण, (6) उदय, (7) उदीरणा, (8) उपशमन, (9) निधत्ति, (10) निकाचित और (11) आबाधाकाल।

आत्मा के साथ कर्मपरमाणुओं का सम्बन्ध होना, क्षीर नीरवत् एकमेक हो जाना बंध है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध के चार प्रकार हैं। आबद्ध कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं। इसे जैनदार्शनिकों ने सत्ता कहा है। स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध के बढ़ने को उद्वर्तना कहते हैं। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के घटने को अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना और अपवर्तना के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई देर में, किसी का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। एक प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपरमाणुओं की स्थिति आदि के रूप में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म फलदेकर निर्जीर्ण हों तो वह फलोदय है और फल दिये बिना ही उदय में आकर नष्ट हो जाय तो प्रदेशोदय है। नियत समय के पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा है। जैसे समय से पूर्व ही आम आदि फल पकाये जाते हैं वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यतः यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है। कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना उपशम है। जिसमें कर्मों का उदय और संक्रमण न हो सके, किन्तु उद्‌वर्तन–अपवर्तन की संभावना हो वह निधत्ति है। जिसमें उद्वर्तन,

अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो, वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा में जिस रूप से कर्म बंधा है उसी रूप में भोगे बिना उसकी निर्जरा नहीं होती। कर्म बधंने के पश्चात् जब तक फल न दे ऐसी अवस्था को आबाधाकाल कहते हैं।

कर्मवाद का यह सिद्धान्त है कि जो प्राणी जैसा कर्म करता है उसको उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्मों का फल भोगे बिना संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती। संसार में आवागमन रोकने के लिये कर्मबीज को नष्ट करना बहुत आवश्यक है। जिसने अपने कर्मों को नष्ट कर लिया है उसका संसार में भ्रमण रुक जाता है। जैन दर्शन के अनुसार जब कोई कर्म किया जाता है तो उस कर्म के परमाणु आठ भागों में विभक्त हो जाते है, और आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रगट नहीं होने देते। इन कर्मों के लक्षण इस प्रकार हैं।

आत्मा अनन्तज्ञान सम्पन्न है। संसार में जितनी आत्माएं है, उन सबमें अनन्तज्ञान विद्यमान है। परन्तु ज्ञानावरणीयकर्म आत्मा के इस अनन्तज्ञान को आच्छादित कर देता है। ज्ञानावरणीय कर्म आंख की पट्टी के समान है। जिस प्रकार आंख के आगे पट्टी बांधने से देखने में रुकावट होती है, वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति का निरोध करता है। जो कर्म आत्मा की साक्षात्कार करने की शक्ति के आवरण करने में निमित्त हैं वे दर्शनावरणीय कर्म हैं। दर्शनावरणीय कर्म प्रतिहारी के समान है। जैसे प्रतिहारी राजा के दर्शन में रुकावट डालता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शन शक्ति को आच्छादित कर देता है।जिन कर्मों के प्रभाव से आत्मा निजानन्द को भूलकर सांसारिक सुख–दुःख रूप फलों का अनुभव करता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। वेदनीय कर्म दो प्रकार के हैं। सात वेदनीय और असातवेदनीय। वेदनीय कर्म मधुलिप्त तलवार की धार के समान है। जिस प्रकार मधु से लिप्त तलवार की धार को चाटने से स्वाद मालुम पड़ता है, उसके समान सातवेदनीय है और जीभ कट जाती है, उसके समान असातवेदनीय है। जो आत्मा के मोहभाव के होने में अर्थात् राग, द्वेष और मिथ्यात्व भाव के होने में निमित्त है वह मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म मद्यपान करने के समान है। जिस प्रकार मद्यपान करने वाले को सुध– बुध नहीं रहती, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीवों की तत्त्व श्रद्धा विपरीत होती है और विषयभोगों में आसक्ति रहती है। आयुष्यकर्म बेड़ी के समान है। जिस प्रकार काठ की बेड़ी में पड़ा हुआ मनुष्य उसको तोड़े बिना निकल

नहीं सकता, वैसे ही आयुष्यकर्म को भोगे बिना जीव एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता। जिसके प्रभाव से जीव शुभ या अशुभ शरीर की रचना, प्रभाव आदि प्राप्त करता है, उसे नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के द्वारा जाति, कुल आदि की उच्चता, निम्नता होती है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जिस कर्म के कारण आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की शक्ति में विघ्न–बाधाएं या रुकावटें आएं, पदार्थ पास में होते हुए भी उनका भोगोपभोग न हो सके, उसका नाम अन्तराय कर्म है। अन्तरायकर्म राजा के कोषाध्यक्ष के समान है। जिस प्रकार राजा का आदेश होने पर कोषाध्यक्ष के बिना दिये वह वस्तु नहीं मिलती, वैसे ही अन्तरायकर्म दूर हुए बिना इच्छित वस्तु नहीं मिलती।